विदेशों में जैनधर्म

□ डॉ० भागचन्द्र जैन 'भास्कर',
[अध्यक्ष, पाली-प्राकृत विभाग, नागपुर विश्वविद्यालय,
न्यू एक्सटेंशन एरिया, सदर, नागपुर (म० रा०)]

जैनधर्म के प्राचीन इतिहास के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि उसने साधारणतः अपनी जन्मभूमि की सीमा का उल्लंघन नहीं किया। उसका प्रचार-प्रसार उतना अधिक नहीं हो पाया जितना बौद्धधर्म का हुआ। इसका मुख्य कारण यह था कि उसका आचार-शैथिल्य बौद्धधर्म की अपेक्षा बहुत कम रहा। आचार के क्षेत्र में दृढ़ता और प्रगाढ़ता होने के कारण वह विदेशी किंवा शुद्ध भौतिकवाद में पली-पुसी पाश्चात्य संस्कृति को अन्तर्भूत नहीं कर सका। अन्तर्भूत करने की आवश्यकता थी भी नहीं। आवश्यकता थी अपने सिद्धान्तों को प्रस्तुत करने की। यह प्रस्तुति किसी सीमा तक विदेशों में हुई है और वहाँ की संस्कृति को जैनधर्म ने प्रभावित किया भी है। इसे हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं—प्राचीन युग और आधुनिक युग।

१. प्राचीन युग

भारत की भौगोलिक सीमा बदलती रही है। प्राचीन काल में अफगानिस्तान, गांधार (कन्दहार तथा ईरान का पूर्वी भाग), नेपाल, भूटान, तिब्बत, कश्मीर, बर्मा, श्रीलंका आदि देशों को भारत के ही अन्तर्गत माना जाता था।[1] जावा, सुमात्रा, बाली, मलाया, श्याम आदि देश भारत के उपनिवेश जैसे थे। चीन, अरब, मिश्र, यूनान आदि कुछ ऐसे देश थे जहाँ भारतीय संस्कृति का प्रचार-प्रसार बढ़ रहा था। विदेशों से थल और जल मार्गों द्वारा व्यापार हुआ करता था। इसलिए आवागमन के साथ सांस्कृतिक तत्त्वों का भी आदान-प्रदान लगा रहता था। यही कारण है कि आज के सुदूर पूर्ववर्ती देशों और मध्य एशिया के विभिन्न भागों में भारतीय संस्कृति के विविध रूपों का अस्तित्व मिलता है। जैन संस्कृति का रूप भी यहाँ उपलब्ध है।

श्रीलंका[2]

जैनधर्म श्रीलंका (Ceylon) में लगभग आठवीं शती ई०पू० में पहुँच चुका था। उस समय उसे रत्नद्वीप, सिंहद्वीप अथवा सिंहलद्वीप कहा जाता था। दक्षिण की विद्याधर संस्कृति का अस्तित्व सिंहलद्वीप के ही पालि ग्रन्थ महावंश में उपलब्ध होता है। वहाँ कहा गया है कि विजय और उनके अनुयायियों को श्रीलंका में यक्ष और यक्षिणियों के तीव्र विरोध का सामना करना पड़ा था। बाद में पाण्डुकाभय (४३८-३६८ ई०पू०) नरेश उनका सहयोग लेने में

---

१. आदिपुराण, १६. १५२-५६.

२. श्रीलंका वर्तमान सीलोन है या वह कहीं मध्यप्रदेश अथवा प्रयाग के आसपास थी, इस विषय में विद्वानों में मतभेद है। मेरी दृष्टि में वर्तमान सीलोन ही श्रीलंका है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सफल हो गया। उसने अनुराधापुर के आस-पास जातिय निग्गंठ के लिए एक विहार भी बनवाया। वहाँ लगभग पाँच सौ विभिन्न मतावलम्बियों का निवास था। वहीं गिरि नामक एक निग्गंठ भी रहता था।[1]

पाँच सौ परिवारों का रहना और निग्गंठों के लिए विहार का निर्माण करना स्पष्ट सूचित करता है कि श्रीलंका में लगभग तृतीय-चतुर्थ शती ई० पू० में जैनधर्म अच्छी स्थिति में था। बाद में तमिल आक्रमण के बाद बट्टगामणि अभय ने निग्गण्ठों के विहार आदि सब कुछ नष्ट-भ्रष्ट कर दिये।[2] महावंश टीका के अनुसार खल्लाटनाग ने गिरि निग्गण्ठ के विहार को स्वयं नष्ट किया और उसके जीवन का अन्त किया।[3]

जैन परम्परा के अनुसार श्रीलंका में विजय के पहुँचने के पूर्व वहाँ यक्ष और राक्षस नहीं थे बल्कि विकसित सभ्यता सम्पन्न मानव जाति के विद्याधर थे, जिनमें जैन भी थे।[4] श्रीलंका की किष्किन्धानगरी के पास त्रिकूट गिरि पर जैन मन्दिर था जिसे रावण ने मन्दोदरि की इच्छापूर्ति के लिए बनवाया था।[5] किष्किन्धानगरी की पहचान आधुनिक केन्डी से की जा सकती है जिसके समीप आज भी एक सुन्दर पर्वत-शृंखला विद्यमान है। इसी पर्वत पर आज भी रावण-परिवार के अवशेष-चिह्न सुरक्षित बताये जाते हैं।

जैन साहित्य श्रीलंका में जैनधर्म के अस्तित्व को और भी अनेक प्रमाणों से स्पष्ट करता है। कहा जाता है, पार्श्वनाथ की जो प्रतिमा आज शिरपुर (वाशिम, महाराष्ट्र) में रखी है, वह वस्तुतः श्रीलंका से माली-सुमाली ले आये थे।[6] करकण्डुचरिउ में भी लंका में अमितवेग के भ्रमण का उल्लेख मिलता है और मलय पर्वत पर रावण द्वारा निर्मित जैन मन्दिर का भी पता चलता है।[7] मलय नामक पर्वत श्रीलंका में आज भी विद्यमान है।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि श्रीलंका में जैनधर्म का अस्तित्व वहाँ बौद्धधर्म पहुँचने के पूर्व था और बाद में भी रहा है।[8] तमिलनाडु के तिरप्परंकुरम (मदुरै जिला) में प्राप्त एक गुफा का निर्माण भी लंका के एक गृहस्थ ने कराया था। यह वहाँ से प्राप्त एक ब्राह्मी शिलालेख से ज्ञात होता है।[9] जहाँ तक पुरातात्त्विक प्रमाणों का प्रश्न है, श्रीलंका में वे नहीं मिलते। डॉ० पर्णवितान ने यह स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि यद्यपि जैनधर्म से सम्बद्ध पुरातात्त्विक प्रमाण श्रीलंका में अभी तक उपलब्ध नहीं हुए पर प्राचीन स्तूपों को मूलतः जैन स्तूपों के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।[10]

बर्मा तथा अन्य देश

बर्मा को प्राचीन काल में सुवर्णभूमि के नाम से जाना जाता था। कालकाचार्य ने सुवर्णभूमि की यात्रा की थी।[11] ऋषभदेव ने बहली (बेक्ट्रिया), यवन (यूनान), सुवर्णभूमि, पण्डव (ईरान) आदि देशों में भ्रमण किया

१. महावंश, पृ० ६७.
२. वही, ३३-७९.
३. महावंशटीका, पृ० ४४४.
४. हरिवंशपुराण, पउमचरिउं आदि ग्रन्थ इस सन्दर्भ में द्रष्टव्य हैं।
५. विविधतीर्थकल्प, पृ० ९३.
६. वही, पृ० १०२.
७. करकण्डुचरिउ, पृ० ४४-६९.
८. यशस्तिलकचम्पू, पृ० ३४, १८१, ४६९.
९. जैन कला व स्थापत्य, भाग—१, पृ० १०२.
१०. Pre-Buddhist Religion Beliefs, JRAS (Ceylon), Vol. XXXI, No. 82, 1929, p. 325. विशेष देखिये, लेखक की पुस्तक Jainism in Buddhist Literature, p. 46-50.
११. उत्तराध्ययननिर्युक्ति गाथा १२०, बृहत्कल्पभाष्य, भाग १, पृ० ७३-७५.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

था।[1] पार्श्वनाथ धर्म-प्रचार के लिये शाक्यदेश (नेपाल) गये थे। अफगानिस्तान में भी जैनधर्म के अस्तित्व के अनेक प्रमाण मिलते हैं।[2] बहाकरेन एमीर (अफगानिस्तान) से कायोत्सर्ग मुद्रा में संगमरमर से निर्मित तीर्थंकर की मूर्ति भी प्राप्त हुई है। ईरान, स्याम और फिलिस्तान में दिगम्बर जैन साधुओं का उल्लेख आता है।[3] यूनानी लेखक मिश्र, एबीसीनिया और इथ्यूपिया में भी दिगम्बर मुनियों का अस्तित्व बताते हैं।[4] काम्बुज, चंपा, बल्गेरिया आदि में भी जैनधर्म का प्रचार हुआ है। केमला (बल्गेरिया) से तो एक कांस्य तीर्थंकर मूर्ति भी प्राप्त हुई है।

प्राचीन साहित्य में समुद्री यात्राओं का वर्णन बहुत मिलता है। जैन श्रावक भी देश-विदेश में व्यापार के लिए इस प्रकार की यात्रायें किया करते थे। कुवलयमाला में निम्नलिखित जलमार्गों की सूचना मिलती है :[5]

१. सोपारक से चीन, महाचीन जाने वाला मार्ग (६६.२)
२. सोपारक से महिलाराज्य (तिब्बत) जाने वाला मार्ग (६६.३)
३. सोपारक से रत्नद्वीप (६६.४)
४. रत्नद्वीप से तारद्वीप (६६.१८)
५. तारद्वीप से समुद्रतट (७०.१२, १८)
६. कोशल से लंकापुरी (७४.११)
७. पाटलिपुत्र से रत्नद्वीप के रास्ते में कुडंलद्वीप (८८.२६, ३०)
८. सुवर्णद्वीप से लौटने के रास्ते में कुडंगद्वीप (८६.४)
९. लंकापुरी को जाते हुए रास्ते में कुडंगद्वीप (८६.६)
१०. जयश्री नगरी से यवनद्वीप (१०६.२)
११. यवनद्वीप से चन्द्रद्वीप (१०६.१६)
१२. समुद्रतट से रोहणद्वीप (१६१.१३, १६)
१३. सोपारक से बब्बरकुल (६५.३३)
१४. सोपारक से स्वर्णद्वीप (६६.१)[6]

ये जैन व्यापारी जहाँ व्यापार करने जाते होंगे वहाँ जैन परिवार, मन्दिर, स्थानक, उपाश्रय होने की सम्भावना अधिक है ; क्योंकि जैन श्रावक की क्रियायें कुछ इस प्रकार की होती हैं जिन्हें उनके बिना पूरा नहीं किया जा सकता। अतः इन देशों में जैनधर्म निश्चित रूप से काफी अच्छी स्थिति में रहा होगा।

जैन संस्कृति का प्रचार-प्रसार विदेशों में अधिक क्यों नहीं हुआ, यह एक साधारण प्रश्न हर अध्येता के मन में उभर आता है। उसका सबसे बड़ा कारण यह रहा, जहाँ तक मैं समझता हूँ, कि अशोक जैसे कर्मठ और क्रान्तिकारी नरेश की छाया जैनधर्म को नहीं मिल सकी। इसका तात्पर्य यह भी नहीं कि जैनधर्म को राजाश्रय नहीं मिला। राजाश्रय तो बहुत मिला है और यही कारण है कि भारत में बौद्धकला और स्थापत्य की अपेक्षा जैनकला और स्थापत्य परिमाण और गुण दोनों की अपेक्षा अधिक है। परन्तु यह राजाश्रय मातृभूमि तक ही सीमित रहा। विदेशों तक नहीं जा सका।

एक अन्य कारण यह भी माना जा सकता है कि जैन आचार का परिपालन अपेक्षाकृत कठिन प्रतीत होता है। बौद्धधर्म की तरह यहाँ शैथिल्य या अपवादात्मक स्थिति नहीं रही। बौद्धधर्म विदेशी संस्कृति के परिवेश में अपने आपको बहुत कुछ परिवर्तित करता रहा जो जैनधर्म नहीं कर सका। जैनधर्म के स्थायित्व का भी यही कारण है। बौद्धधर्म अपने आचार-विचार की शिथिलता के कारण अपनी जन्मभूमि से लुप्तप्राय हो गया पर जैनधर्म अनेक तीखी झंझावातों के बावजूद सुदृढ़ और लोकप्रिय बना रहा। जैन इतिहास से देखने को यह भी आभास होता है कि जैनाचार्य भी स्वयं जैनधर्म को विदेशों की ओर भेजने में अधिक उत्सुक नहीं रहे। वे तो सदा साधक रहे हैं, आत्मोन्मुखी रहे

---

१. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा ३३६-३७.
२. JRAS. (India), Jan. 1885.
३. जे०एफ०मूट, हुकुमचन्द्र अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ३७४.
४. Asiatic Researches, Vol. 3, p. 6.
५. कुवलयमाला का सांस्कृतिक अध्ययन, डा०प्रेमसुमन जैन, पृ० २११.
६. द्रष्टव्य—गो०इ०ला०इ०, पृ० १३८.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। राजनीति के जंजाल में वे प्रायः कभी नहीं पड़े। इसके बावजूद भी जैनधर्म विदेशों में पहुँचा। उसे विदेशियों की गुणग्राहकता ही कहना चाहिए।

२. आधुनिक युग

आधुनिक युग में विदेशों में पहुँचे हुए जैनधर्म की स्थिति को समझने के लिए जैन साहित्य की ओर दृष्टिपात करना होगा। १८-१९वीं शती में विशेषरूप से विदेशी विद्वानों का ध्यान प्राचीन जैन साहित्य की ओर आकर्षित हुआ। उन्होंने हस्तलिखित जैन ग्रन्थों की खोजकर उन्हें सुसंपादित किया और प्रकाशित कर अन्य विद्वानों के लिए शोध-खोज के क्षेत्र में मार्ग प्रशस्त किया। प्राकृत भाषा और साहित्य की ओर उनका झुकाव अधिक दिखाई देता है।

जैन हस्तलिखित ग्रन्थ-सूची

कदाचित् विदेशी विद्वानों ने ही हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची-निर्माण का कार्य प्रारम्भ किया है। सर्वप्रथम वियेन से ई० १८८१ में बूलर ने संस्कृत-प्राकृत हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची प्रकाशित की। इसके बाद पीटरसन ने सन् १८८२ से १८९४ के बीच बम्बई क्षेत्र से चार रिपोर्ट्स प्रस्तुत की जिनमें कुमारपाल प्रतिबोध, पउमचरिय आदि ग्रन्थ प्रकाश में आये। इसी प्रकार वेबर का "Verzeichnies des Sanskrit and Prakrit Hand-schriften der Kinig lichen Bibliothek lu Berlin." (1886-1892), Th. Aufrecht का 'Florentine Sanskrit Manuscripts examined' (1892), Pulle का 'The Florentine Jain Manuscripts' (London, 1893), एवं Leumann का 'A List of the Strassbury Collection of Digambar Manuscripts' (Vien, 1897), कार्य भी उल्लेखनीय हैं। इन कार्यों के बाद ही भारतीय विद्वानों ने इस ओर ध्यान दिया है।

जैनागम ग्रन्थ सम्पादन

इस क्षेत्र में भी सर्वप्रथम Buhler, Keilhorn, Jacobi, Weber, Leumann, Peterson आदि विदेशी विद्वानों ने ही कार्य किया है। Jacobi ने आचारांग (London P. T. S. 1882), Schubring ने आचारांग का प्रथम श्रुतस्कन्ध (१९१०), Weber ने "Fragment, der Bhagawati, Steinthal ने 'नायाधम्मकहाओ', (Leipzig, 1881), Hoernle ने उवासकदसाओ (पूना, १९४०) तथा रायल एशियाटिक सोसाइटी ने अन्तगडदसाओ (लंदन, १९०७) का संपादन किया।

उपांगों में औपपातिकसूत्र का सम्पादन Leumann ने सर्वप्रथम किया (Leipzin, 1885) और इसी के आधार पर बाद में अन्य विद्वानों ने अनेक संस्करण तैयार किये। सूर्यप्रज्ञप्ति को इसी तरह सर्वप्रथम अपने अध्ययन का विषय बनाने वालों में Weber व Thibaut हैं जिन्होंने इस पर निबन्ध लिखे।[1] इसके बाद जे० एन० कोही ने उसका संपादन किया और जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति के साथ उसका तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया (Stuttgart, 1937)। इसी तरह S. J. Warren का प्रबन्ध "Niryavaliya-suttam een Upanga der Jains" 'निरयावलियसुत्तं' के विस्तृत अध्ययन के लिए बड़ा उपयोगी सिद्ध हुआ।

छेदसूत्रों के अध्ययन में भी विदेशी विद्वानों ने अपना महनीय योगदान दिया है। W. Schubring ने संक्षिप्त पर महत्त्वपूर्ण भूमिका के साथ महानिशीथ का सम्पादन किया (Berlin, 1918) और उन्हीं ने फिर कल्पसूत्र, व्यवहार-सूत्र और निशीथसूत्र को भी एक साथ सम्पादित कर प्रकाशित किया। Celette Caillat ने व्यवहारसूत्र का सम्पादन कर अनुवाद के साथ फ्रांस में उसे तीन भागों में प्रकाशित किया। H. Jacobi ने सर्वप्रथम दसासुयक्खंध का

---

१. "Uber die Suryaprajnapti" published in Indische studies, Vol. X, p. 254-316., Leipzig, 1868. Journal of the Asiatic Society of Bengal, Vol. XLIX, p. 109-127, etc. 181-206.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

तुलनात्मक अध्ययन के साथ सम्पादन किया (Leipzig, 1879) जिसका अँग्रेजी अनुवाद Sacred Books of the East, Vol. 22 में प्रकाशित हुआ। बाद में उन्होंने कल्पसूत्र का भी सम्पादन किया। J. Stevenson ने उन्हीं के अनुकरण पर कल्पसूत्र और नवतत्व का संयुक्त सम्पादन किया। अँग्रेजी अनुवाद के साथ (London, 1848)। W.Schubring ने भी कल्पसूत्र का अध्ययन किया—'Das Kalpasutra, die alte Sammlung Unistischer Monchs uor sehriften" (Leipzig, 1905)।

मूलसूत्रों पर भी विदेशी विद्वानों ने अध्ययन का सूत्रपात किया। H. Jacobi ने उत्तराध्ययन का सम्पादन तुलनात्मक अध्ययन के साथ सर्वप्रथम प्रस्तुत किया।[1] J. Charpentier ने उसके अध्ययन को और आगे बढ़ाया।[2] आवश्यक सूत्र और उसकी टीकाओं का E. Leumann ने अच्छा अध्ययन प्रस्तुत किया। उन्होंने आवश्यक साहित्य का प्रथम भाग तो प्रकाशित कर दिया (Hemburg 1934) पर द्वितीय भाग अभी तक सामने नहीं आ पाया। Leumann ने निर्युक्ति सहित दशवैकालिक सूत्र को तुलनात्मक अध्ययन के साथ सम्पादित किया (Bombay Samvat 1999.)

अर्धमागधी आगम साहित्य के अध्ययन की ओर विदेशी विद्वानों का झुकाव अधिक रहा है, शौरसेनी आगम साहित्य की ओर नहीं

आगमेतर ग्रन्थों का संपादन-अनुसंधान

यह बहुविध व्यापी क्षेत्र है। इस क्षेत्र में चरितकाव्यों में से जेकोबी ने सर्वप्रथम विमलसूरि के पउमचरिय का संपादन किया (भावनगर, १९१४)। कथाकाव्यों में से तरंगवईकहा का सम्पादन Leumann ने और समराइच्चकहा तथा कालकाचरियकहानय (ZDMG, Vol. XXXIV, p. 247-318, Leipzig 1880) का सम्पादन विस्तृत भूमिका के साथ जेकोबी ने (Asiatic Scciety of Bengal, Calcutta, 1926) किया।[3] Leumann ने भी Zwei weitere Kalaka-Legenden शीर्षक से इसका अध्ययन किया।[4]

प्राकृत कोषों के क्षेत्र में Buhler पहले "On a Prakrit Glossar entitled Pailacchi और 'The author of the Pailacchi' शीर्षक दो निबन्ध लिखे और फिर पाइयलच्छी नाममाला का सम्पादन स्वयं किया। इसी तरह हेमचन्द्र की देशीनाममाला तथा उसकी टीका का सम्पादन R. Pischel ने किया।[5]

विदेशी विद्वानों ने प्राकृत जैन साहित्य के आधार पर प्राकृत भाषाओं का भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन भी किया है। इस दृष्टि से A. Hoefer, J. Beames, G. Gold Schamidt, E. Muller, A. F. Rudolf, John Beames, H. Jacobi, R. Pischel, Sten Komeu, T. Burrow, Alsdorf, Hulsh, Buhler, Bloch, Wilson आदि विद्वानों के नाम इस क्षेत्र में उल्लेखनीय हैं। इनमें भी Jacobi और Pischel विशेष स्मरणीय हैं। Jacobi के Uber Unregel massige Passive in Prakrit (Kuhne's Zeitschift fur deultschen morgenlandischen ceselleschaft, Vol. XXXIII, pp. 249-259, Gutersloh, 1887), तथा Uber das Prakrit in der Erahlungh-Leteratur der Jainas (Rivista degi studi oriental, Vol. II pp. 231-236, Roma, 1888-1909) कार्य यहाँ उल्लेखनीय हैं, जिनमें उन्होंने प्राकृत की विभिन्न विशेषताओं को भाषाविज्ञान के क्षेत्र में अध्ययन का विषय बनाया। हरिभद्रसूरि की समराइच्चकहा तथा विमलसूरि के पउमचरिउं के अध्ययन के आधार पर यह निश्चित करने का प्रयत्न किया कि जैन महाराष्ट्री प्राकृत के गद्य-पद्य साहित्य की विशेषताएँ पृथक्-पृथक् हैं।

---

१. SBE, Vol. 45.
२. Upsala, 1914.
३. Indian Antiquary, Vol. II, pp. 166-168, Bombay, 1875.
४. Ibid., Vol. IV, p. 59-60, Bombay, 1875.
५. बंबई, १८८०.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

R. Pischel ने 1900 में Strassburg से Grammatik der Prakrit Sprachen (Grundriss der Indo-arischen philogie un Alterturns kunde, Band I, Heft 8) प्रकाशित कर भाषावैज्ञानिकों को प्राकृत का अध्ययन करने के लिए और भी प्रेरित कर दिया। यहाँ लेखक ने यह भी सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि श्वेताम्बर सम्प्रदाय के प्राकृत जैन आगमों की भाषा को अर्धमागधी नाम दिया जाना चाहिए, जैन प्राकृत नहीं। इसी प्रकार महाराष्ट्री जैन प्राकृत के स्थान पर सौराष्ट्री जैन प्राकृत तथा दिगम्बर सम्प्रदाय के प्राकृत आगम ग्रन्थों की भाषा को शौरसेनी जैन प्राकृत कहा जाना चाहिए।

प्राकृत व्याकरणों का अध्ययन

प्राकृत व्याकरणों को साधारणतः दो सम्प्रदायों में विभक्त किया गया है—पूर्वी और पश्चिमी। पूर्वी सम्प्रदाय का नेतृत्व वररुचि करते हैं और पश्चिमी सम्प्रदाय का नेतृत्व हेमचन्द्र। पाश्चात्य विद्वानों ने इन दोनों सम्प्रदायों पर काम किया है। पूर्वी व्याकरण सम्प्रदाय पर शोध प्रारम्भ करने का श्रेय Cl. Lassen को दिया जा सकता है जिन्होंने १८३७ में Bonnae से Institutions Linguae Pracritieae नामक ग्रन्थ प्रकाशित किया।

कतिपय विद्वान् चण्ड के 'प्राकृत लक्षण' को वररुचि से भी पूर्ववर्ती मानते हैं। प्राकृत लक्षण का सर्वप्रथम सम्पादन H. Hoernle के किया जो १८८० में कलकत्ता से The Prakrit Lakshanam or Chanda's Grammar of the ancient (आर्ष) Prakrit, Pt. I, text with a critical Introduction and Indexes नाम से प्रकाशित हुआ। Hoernle की दृष्टि में चण्ड ने आर्ष (अर्धमागधी महाराष्ट्री) व्याकरण लिखा है और यह चण्ड वररुचि से पूर्ववर्ती है। परन्तु Block ने अपने Vararuchi unt Hemachandra शीर्षक निबन्ध में इस मत का खण्डन किया है और कहा है कि चण्ड ने अपना व्याकरण हेमचन्द्र आदि अनेक व्याकरणों से उधार लिया है। इतना ही नहीं, उसमें अशुद्धियाँ भी बहुत हैं। पिशल ने इन दोनों मतों का खण्डन किया और कहा कि चण्ड उतना प्राचीन नहीं जितना Hoernle मानते हैं। डॉ० हीरालालजी ने भी चण्ड को वररुचि से पूर्वतर माना है।

क्रमदीश्वर का संक्षिप्तसार हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरण के आधार पर लिखा गया है। इसका सर्वप्रथम सम्पादन Lassen ने १८३९ में 'इन्स्टीट्यूत्सीओनेस' में किया जिसका कुछ भाग "राडियेत प्राकृतिका ए (बौन्नाए-आर्डरनुम)" नाम से प्रकाशित हुआ।

पुरुषोत्तम के प्राकृत शब्दानुशासन का सर्वप्रथम सम्पादन Nitti Dolci ने नेपाल से प्राप्त एक ही प्रति के आधार पर किया जिसका प्रकाशन १९३८ में पेरिस से हुआ। कौवेल और आफरेस्ट के भी प्राकृत-अध्ययन का मूल्यांकन Dolci ने किया।

प्राकृत-कल्पतरु के रचयिता रामतर्कवागीश का उल्लेख लास्सन ने इन्स्टीट्यूत्सीओनेस में किया। उसके समूचे भाग को एक साथ प्रकाशित नहीं किया जा सका। ग्रियरसन ने उसके कुछ भागों को निबन्धों के रूप में अवश्य प्रस्तुत किया है। बाद में सम्पूर्ण ग्रन्थ का सम्पादन E. Hultzsch ने किया जिसका प्रकाशन रायल एशियाटिक सोसाइटी Hertford से १९०९ में हुआ।

प्राकृत व्याकरण के पश्चिमी सम्प्रदाय के प्रमुख वैयाकरण आचार्य हेमचन्द्र को कहा जा सकता है। उनका प्राकृत व्याकरण "सिद्धहेमशब्दानुशासन" का अष्टम अध्याय है जिसका सर्वप्रथम सम्पादन R. Pischel ने दो भागों में किया जिनका प्रकाशन Halle से १८७७ और १८८० में हुआ। प्रथम भाग में मूलग्रन्थ और शब्द-सूची दी गई है और द्वितीय भाग में उसका जर्मन अनुवाद, विशद व्याख्या और तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इसमें पिशल ने हेमचन्द्र के सिद्धान्तों की मीमांसा की है। कहीं वे उनसे सहमत भी नहीं हो सके। कहीं उन्होंने अकथ्य की भाषा को कथ्य भी बना दिया। अर्धमागधी, महाराष्ट्री आदि के अतिरिक्त ढक्की, दाक्षिणात्या, आवन्ती और जैन-शौरसेनी जैसी प्राकृत बोलियों पर पिशल ने बिलकुल नई सामग्री प्रस्तुत की है।

त्रिविक्रम के शब्दानुशासन के आधार पर सिंहराज ने 'प्राकृत रूपावतार' लिखा जिसका प्रथम सम्पादन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

E.Hultzsch ने किया और प्रकाशन रायल एशियाटिक सोसाइटी, Hertford से १९०९ में हुआ। सम्पादक ने इसकी भूमिका में लेखक के व्यक्तित्व और कृतित्व पर विस्तार से प्रकाश डाला है।

उपर्युक्त व्याकरणों के आधार पर विदेशी विद्वानों ने अनेक व्याकरण-ग्रन्थ स्वतन्त्ररूप से लिखे जिनमें Hoeffar, Lassen, Muller, Goldschmidt, Jacobi, Pavolini, Grierson, Wollner आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। बाद में Weber, Jacobi, Comell, Pischel, Nachtrag आदि विद्वानों ने प्राकृत की किसी एक बोली पर अध्ययन प्रारम्भ किया। तदनन्तर आचारंग, सूयगडंग, उत्तरज्झयण आदि जैन ग्रन्थों का विशेष आधार लेकर प्राकृत भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन भी पाश्चात्य विद्वानों ने किया।[1]

अपभ्रंश साहित्य की ओर भी इन विद्वानों का ध्यान आकृष्ट हुआ। सर्वप्रथम Pischel ने 'Materialen zur Kenntnis des Apabhransa (Goltingen,1902) और 'Ein Nachtrag zur Grammatik der Prakrit Sprachen' (Berlin, 1902) प्रकाशित किये और फिर Jalobi ने उनका अध्ययन कर प्राकृत-अपभ्रंश ग्रन्थों का सम्पादन किया। उत्तराध्ययन, आचारांग, कालकाचार्य कथानक, पउमचरिय, समराइच्चकहा (१९१३-१४), भविसयत्तकहा (Munchen 1918), सनतकुमारचरिउ (१९२१) आदि ग्रन्थों का सम्पादन उनकी ही प्रतिभा और अध्यवसाय का परिणाम था। उनके बाद Alsdorf ने इस क्षेत्र को संवारा और कुमारपालप्रतिबोध (Harward University, 1928) आदि ग्रन्थ सम्पादित किये। इन विद्वानों ने अन्य विद्वानों को भी प्रेरित किया और फलतः वर्तमान में भी इस दिशा में कार्य चल रहा है।

प्राकृत-अपभ्रंश के साथ ही संस्कृत जैन साहित्य का भी विदेशी विद्वानों ने अध्ययन किया। Jacobi, Keith आदि जैसे विद्वान इस क्षेत्र में अग्रणी रहे हैं। आचार्यों के काल-निर्णय की दिशा में उनका विशेष योगदान कहा जा सकता है।

प्रचार-प्रसार

जैन साहित्य के इस अध्ययन क्रम ने विदेशों में जैनधर्म की लोकप्रियता को काफी आगे बढ़ाया। स्व० श्री चम्पतराय बेरिस्टर और श्री जैनी ने ब्रिटेन, अमेरिका आदि देशों में जाकर जैनधर्म पर अनेक भाषण दिये और एक संस्थान भी प्रारम्भ किया। वर्तमान में उनके कार्य को डॉ० नरेन्द्र सेठी बढ़ा रहे हैं पूरी तत्परता के साथ। उन्होंने वहाँ एक मन्दिर तथा एक पुस्तकालय का निर्माण कराया है।

पिछले वर्ष मुनि श्री सुशीलकुमारजी ने अमेरिका, ब्रिटेन आदि देशों में तीन-चार माह की लम्बी यात्रा कर जैनधर्म का प्रचार-प्रसार किया तथा जैन योगसाधना केन्द्रों की स्थापना की। मुनिश्री कुछ शिष्यों को साथ लेकर वापस आये और उन्हें जैन आचार का व्यावहारिक शिक्षण-निरीक्षण कराया।

अभी जनवरी १९८० में नाइरोबी (केनिया) में पंचकल्याण प्रतिष्ठा कराकर श्री कानजी स्वामी ने जैनधर्म के प्रचार में एक और नया अध्याय जोड़ दिया है। उन्होंने वहाँ अपनी शिष्य-मण्डली के साथ स्वयं पहुँचकर नाइरोबी, मुम्बासा आदि शहरों में बीस दिन तक तत्त्व प्रचार किया तथा जैन मन्दिर की प्रतिष्ठा कराई।

विदेशों में हुए जैनधर्म के प्रचार-प्रसार के इस संक्षिप्त विवरण से यह संकेत मिलता है कि जैन सिद्धान्तों की समीचीनता तथा उसकी सार्वभौमिकता की ओर विदेशियों का झुकाव रहा है। जिस तत्परता और लगन के साथ बौद्धधर्म का प्रचार किया गया, यदि उसी तत्परता और लगन के साथ जैनधर्म का प्रचार किया गया होता तो निश्चित ही जैनधर्म की स्थिति बौद्धधर्म की स्थिति से कहीं अधिक अच्छी होती। □

---

१. विस्तृत जानकारी के लिये देखिये लेखक का लेख—"आधुनिक युग में प्राकृत व्याकरण शास्त्र का अध्ययन-अनुसंधान—संस्कृत-प्राकृत जैन व्याकरण और कोश की परम्परा," छापर, १९७७, पृ० २३९-६१.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org